श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

UG-11.26- षष्ठः सोपान(अर्थ)

श्रीभगवानुवाच

मल्लक्षणमिमं(ङ्) कायं(लँ), लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः ।

आनन्दं(म्) परमात्मान- मात्मस्थं(म्) समुपैति माम् ॥ 1॥

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- उद्धव जी! यह मनुष्य शरीर मेरे स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति का-मेरी प्राप्ति का मुख्य साधन है। इसे पाकर जो मनुष्य सच्चे प्रेम से मेरी भक्ति करता है, वह अन्तःकरण में स्थित मुझ आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

गुणमय्या जीवयोन्या, विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया ।

गुणेषु मायामात्रेषु, दृश्यमानेष्ववस्तुतः ।

वर्तमानोऽपि न पुमान्, युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः ॥ 2॥

जीवों की सभी योनियाँ, सभी गतियाँ त्रिगुणमयी हैं। जीव ज्ञाननिष्ठा के द्वारा उनसे सदा के लिये मुक्त हो जाता है। सत्त्व-रज आदि गुण जो दीख रहे हैं, वे वास्तविक नहीं हैं, मायामात्र हैं। ज्ञान हो जाने के बाद पुरुष उनके बीच में रहने पर भी, उनके द्वारा व्यवहार करने पर भी उनसे बँधता नहीं। इसका कारण यह है कि गुणों की वास्तविक सत्ता ही नहीं है।

सं(ङ्)गं(न्) न कुर्यादसतां(म्), शिश्नोदरतृपां(ङ्) क्वचित् ।

तस्यानुगस्तमस्यन्धे, पतत्यन्धानुगान्धवत् ॥ 3॥

साधारण लोगों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो लोग विषयों के सेवन और उदर पोषण में ही लगे हुए हैं, उन असत् पुरुषों का संग कभी न करे; क्योंकि उनका अनुगमन करने वाले पुरुष की वैसी ही दुर्दशा होती है, जैसे अंधे के सहारे चलने वाले अंधे की। उसे तो घोर अन्धकार में ही भटकना पड़ता है।

ऐलः(स्) सम्राडिमां(ङ्) गाथा- मगायत बृहच्छ्रवाः ।

उर्वशीविरहान् मुह्यन्, निर्विण्णः(श्) शोकसं(यँ)यमे ॥ 4॥

उद्धव जी! पहले तो परम यशस्वी सम्राट् इलानन्दन पुरूरवा उर्वशी के विरह से अत्यन्त बेसुध हो गया था। पीछे शोक हट जाने पर उसे बड़ा वैराग्य हुआ और तब उसने यह गाथा गायी।

त्यक्त्वाऽऽत्मानं(वँ) व्रजन्तीं(न्) तां(न्), नग्न उन्मत्तवन्नृपः ।

विलपन्नन्वगाज्जाये, घोरे तिष्ठेति विक्लवः ॥ 5॥

राजा पुरुरवा नग्न होकर पागल की भाँति अपने को छोड़कर भागती हुई उर्वशी के पीछे अत्यन्त विह्वल होकर दौड़ने लगा और कहने लगा- 'देवि! निष्ठुर हृदये! थोड़ी देर ठहर जा, भाग मत' ।

कामानतृप्तोऽनुजुषन् , क्षुल्लकान् वर्षयामिनीः ।

न वेद यान्तीर्नायान्ती- रुर्वश्याकृष्टचेतनः॥ 6॥

उर्वशी ने उनका चित्त आकृष्ट कर लिया था। उन्हें तृप्ति नहीं हुई थी। वे क्षुद्र विषयों के सेवन में इतने डूब गये थे कि उन्हें वर्षों की रात्रियाँ न जाती मालूम पड़ीं और न तो आतीं।

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः(ख्), कामकश्मलचेतसः ।

देव्या गृहीतकण्ठस्य, नायुः(ख्) खण्डा इमे स्मृताः ॥ 7॥

पुरूरवा ने कहा- 'हाय-हाय! भला, मेरी मूढ़ता तो देखो, कामवासना ने मेरे चित्त को कितना कलुषित कर दिया! उर्वशी ने अपनी बाहुओं से मेरा ऐसा गला पकड़ा कि मैंने आयु के न जाने कितने वर्ष खो दिये। ओह! विस्मृति की भी एक सीमा होती है।

नाहं(वँ) वेदाभिनिर्मुक्तः(स्), सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया ।

मुषितो वर्षपूगानां(म्), बताहानि गतान्युत ॥ 8॥

हाय-हाय! इसने मुझे लुट लिया। सूर्य अस्त हो गया या उदित हुआ-यह भी मैं न जान सका। बड़े खेद की बात है कि बहुत-से वर्षों के दिन-पर-दिन बीतते गये और मुझे मालूम तक न पड़ा।

अहो मे आत्मसम्मोहो, येनात्मा योषितां(ङ्) कृतः ।

क्रीडामृगश्चक्रवर्ती, नरदेवशिखामणिः ॥ 9॥

अहो! आश्चर्य है! मेरे मन में इतना मोह बढ़ गया, जिसने नरदेव-शिखामणि चक्रवर्ती सम्राट् मुझ पुरूरवा को भी स्त्रियों का क्रीड़ामृग (खिलौना) बना दिया।

सपरिच्छदमात्मानं(म्), हित्वा तृणमिवेश्वरम् ।

यान्तीं(म्) स्त्रियं(ञ्) चान्वगमं(न्), नग्न उन्मत्तवद् रुदन् ॥ 10॥

देखो, मैं प्रजा को मर्यादा में रखने वाला सम्राट् हूँ। वह मुझे और मेरे राजपाट को तिनके की तरह छोड़कर जाने लगी और मैं पागल नंग-धड़ंग रोता-बिलखता उस स्त्री के पीछे दौड़ पड़ा। हाय! हाय! यह भी कोई जीवन है।

कुतस्तस्यानुभावः(स्) स्यात्, तेज ईशत्वमेव वा ।

योऽन्वगच्छं(म्) स्त्रियं(यँ) यान्तीं(ङ्), खरवत् पादताडितः ॥ 11॥

मैं गधे की तरह दुलत्तियाँ सहकर भी स्त्री के पीछे-पीछे दौड़ता रहा; फिर मुझ में प्रभाव, तेज और स्वामित्व भला कैसे रह सकता है।

किं(वँ) विद्यया किं(न्) तपसा, किं(न्) त्यागेन श्रुतेन वा ।

किं(वँ) विविक्तेन मौनेन, स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥ 12॥

स्त्री ने जिसका मन चुरा लिया, उसकी विद्या व्यर्थ है। उसे तपस्या, त्याग और शास्त्राभ्यास से भी कोई लाभ नहीं और इसमें सन्देह नहीं कि उसका एकान्तसेवन और मौन भी निष्फल है।

स्वार्थस्याकोविदं(न्) धिङ् मां(म्), मूर्खं(म्) पण्डितमानिनम् ।

योऽहमीश्वरतां(म्) प्राप्य, स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः ॥ 13॥

मुझे अपनी ही हानि-लाभ का पता नहीं, फिर भी अपने को बहुत बड़ा पण्डित मानता हूँ। मुझ मूर्ख को धिक्कार है! हाय! हाय! मैं चक्रवर्ती सम्राट् होकर भी गधे और बैल की तरह स्त्री के फंदे में फँस गया।

सेवतो वर्षपूगान् मे, उर्वश्या अधरासवम् ।

न तृप्यत्यात्मभूः(ख्) कामो, वह्निराहुतिभिर्यथा ॥ 14॥

मैं वर्षों तक उर्वशी के होठों की मादक मदिरा पीता रहा, पर मेरी कामवासना तृप्त न हुई। सच है, कहीं आहुतियों से अग्नि की तृप्ति हुई है।

पुं(म्)श्चल्यापहृतं(ञ्) चित्तं(ङ्), को न्वन्यो मोचितुं(म्) प्रभुः ।

आत्मारामेश्वरमृते, भगवन्तमधोक्षजम् ॥ 15॥

उस कुलटा ने मेरा चित्त चुरा लिया। आत्माराम जिवन्मुक्तों के स्वामी इन्द्रियातीत भगवान को छोड़कर और ऐसा कौन है, जो मुझे उसके फंदे से निकाल सके।

बोधितस्यापि देव्या मे, सूक्तवाक्येन दुर्मतेः ।

मनोगतो महामोहो, नापयात्यजितात्मनः ॥ 16॥

उर्वशी ने तो मुझे वैदिक सूक्त के वचनों द्वारा यथार्थ बात कहकर समझाया भी था; परन्तु मेरी बुद्धि ऐसी मारी गयी कि मेरे मन का वह भयंकर मोह तब भी मिटा नहीं। जब मेरी इन्द्रियाँ ही मेरे हाथ के बाहर हो गयीं, तब मैं समझता भी कैसे।

किमेतया नोऽपकृतं(म्), रज्ज्वा वा सर्पचेतसः ।

रज्जुस्वरूपाविदुषो, योऽहं(यँ) यदजितेन्द्रियः ॥ 17॥

जो रस्सी के स्वरूप को न जानकर उसमें सर्प की कल्पना कर रहा है और दुःखी हो रहा है, रस्सी ने उसका क्या बिगाड़ा है? इसी प्रकार इस उर्वशी ने भी हमारा क्या बिगाड़ा? क्योंकि स्वयं मैं ही अजितेन्द्रिय होने के कारण अपराधी हूँ।

क्वायं(म्) मलीमसः(ख्) कायो, दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः ।

क्व गुणाः(स्) सौमनस्याद्या, ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥ 18॥

कहाँ तो यह मैला-कुचैला, दुर्गन्ध से भरा अपवित्र शरीर और कहाँ सुकुमारता, पवित्रता, सुगन्ध आदि पुष्पोंचित गुण! परन्तु मैंने अज्ञानवश असुन्दर में सुन्दर का आरोप कर लिया।

पित्रोः(ख्) किं(म्) स्वं(न्) नु भार्यायाः(स्), स्वामिनोऽग्नेः(श्) श्वगृध्रयोः ।

किमात्मनः(ख्) किं(म्) सुहृदा- मिति यो नावसीयते ॥ 19॥

यह शरीर माता-पिता का सर्वस्व है अथवा पत्नी की सम्पत्ति? यह स्वामी की मोल ली हुई वस्तु है, आग का ईधन है अथवा कुत्ते और गीधों का भोजन? इसे अपना कहें अथवा सुहृद्-सम्बन्धियों का? बहुत सोचने-विचारने पर भी कोई निश्चय नहीं होता।

तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये, तुच्छनिष्ठे विषज्जते ।

अहो सुभद्रं(म्) सुनसं(म्), सुस्मितं(ञ्) च मुखं(म्) स्त्रियः ॥ 20॥

यह शरीर मल-मूत्र से भरा हुआ अत्यन्त अपवित्र है। इसका अन्त यही है कि पक्षी खाकर विष्ठा कर दें, इसके सड़ जाने पर इसमें कीड़ें पड़ जायें अथवा जला देने पर यह राख का ढेर हो जाये। ऐसे शरीर पर लोग लट्टू हो जाते हैं और कहने लगते हैं- 'अहो! इस स्त्री का मुखड़ा कितना सुन्दर है! नाक कितनी सुघड़ है और मन्द-मन्द मुस्कान कितनी मनोहर है।'

त्वङ्मां(म्)सरुधिरस्नायु- मेदोमज्जास्थिसं(म्)हतौ।

विण्मूत्रपूये रमतां(ङ्), कृमीणां(ङ्) कियदन्तरम् ॥ 21॥

यह शरीर त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेदा, मज्जा और हड्डियों का ढेर और मल-मूत्र तथा पीब से भरा हुआ है। यदि मनुष्य इसमें रमता है तो मल-मूत्र के कीड़ों और उसमें अन्तर ही क्या है।

अथापि नोपसज्जेत, स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित् ।

विषयेन्द्रियसं(यँ)योगान्- मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥ 22॥

इसलिये अपनी भलाई समझने वाले विवेकी मनुष्य को चाहिये कि स्त्रियों और स्त्री-लम्पट पुरुषों का संग न करे। विषय और इन्द्रियों के संयोग से ही मन में विकार होता है; अन्यथा विकार का कोई अवसर ही नहीं है।

अदृष्टादश्रुताद् भावान्- न भाव उपजायते ।

असम्प्रयुं(ञ्)जतः(फ्) प्राणान्, शाम्यति स्तिमितं(म्) मनः ॥ 23॥

जो वस्तु कभी देखी या सुनी नहीं गयी है, उसके लिये मन में विकार नहीं होता। जो लोग विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग नहीं होने देते, उनका मन अपने-आप निश्चल होकर शान्त हो जाता है।

तस्मात् सं(ङ्)गो न कर्तव्यः(स्), स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः ।

विदुषां(ञ्) चाप्यविश्रब्धः(ष्), षड्वर्गः(ख्) किमु मादृशाम् ॥ 24॥

अतः वाणी, कान और मन आदि इन्द्रियों से स्त्रियों और स्त्रीलम्पटों का संग कभी नहीं करना चाहिये। मेरे-जैसे लोगों की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वानों के लिये भी अपनी इन्द्रियाँ और मन विश्वसनीय नहीं हैं।

श्रीभगवानुवाच

एवं(म्) प्रगायन् नृपदेवदेवः(स्),

स उर्वशीलोकमथो विहाय ।

आत्मानमात्मन्यवगम्य मां(वँ) वै,

उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥ 25॥

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- उद्धव जी! राजराजेश्वर पुरूरवा के मन में जब इस तरह के उद्गार उठने लगे, तब उसने उर्वशीलोक का परित्याग कर दिया। अब ज्ञानोदय होने के कारण उसका मोह जाता रहा और उसने अपने हृदय में ही आत्मस्वरूप से मेरा साक्षात्कार कर लिया और वह शान्त भाव में स्थित हो गया।

ततो दुः(स्)सं(ङ्)गमुत्सृज्य, सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।

सन्त एतस्य छिन्दन्ति, मनोव्यासं(ङ्)गमुक्तिभिः॥ 26॥

इसलिये बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि पुरूरवा की भाँति कुसंग छोड़कर सत्पुरुषों का संग करे। संत पुरुष अपने सदुपदेशों से उसके मन की आसक्ति नष्ट कर देंगे।

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः(फ्), प्रशान्ताः(स्) समदर्शिनः ।

निर्ममा निरहं(ङ्)कारा, निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥ 27॥

संत पुरुषों का लक्षण यह है कि उन्हें कभी किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। उनका चित्त मुझ में लगा रहता है। उनके हृदय में शान्ति का अगाध समुद्र लहराता रहता है। वे सदा-सर्वदा सर्वत्र सब में सब रूप से स्थित भगवान का ही दर्शन करते हैं। उनमें अहंकार का लेश भी नहीं होता, फिर ममता की तो सम्भावना ही कहाँ है। वे सर्दी-गरमी, सुख-दुःख आदि द्वन्दों में एकरस रहते हैं तथा बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक और पदार्थ सम्बन्धी किसी प्रकार का भी परिग्रह नहीं रखते।

तेषु नित्यं(म्) महाभाग, महाभागेषु मत्कथाः ।

सम्भवन्ति हिता नृणां(ञ्), जुषतां(म्) प्रपुनन्त्यघम् ॥ 28॥

परमभाग्यवान् उद्धव जी! संतों के सौभाग्य की महिमा कौन कहे? उनके पास सदा-सर्वदा मेरी लीला-कथाएँ हुआ करती हैं। मेरी कथाएँ मनुष्यों के लिये परम हितकर हैं; जो उनका सेवन करते हैं, उसके सारे पाप-तापों को वे धो डालती हैं।

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति, ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।

मत्पराः(श्) श्रद्दधानाश्च, भक्तिं(वँ) विन्दन्ति ते मयि ॥ 29॥

जो लोग आदर और श्रद्धा से मेरी लीला-कथाओं का श्रवण, गान और अनुमोदन करते हैं, वे मेरे परायण हो जाते हैं और मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

भक्तिं(लँ) लब्धवतः(स्) साधोः(ख्), किमन्यदवशिष्यते ।

मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्- यानन्दानुभवात्मनि ॥ 30॥

उद्धव जी! मैं अनन्त अचिन्त्य कल्याणमय गुण गणों का आश्रय हूँ। मेरा स्वरूप है-केवल आनन्द, केवल अनुभव, विशुद्ध आत्मा। मैं साक्षात् परब्रह्म हूँ। जिसे मेरी भक्ति मिल गयी, वह तो संत हो गया। अब उसे कुछ भी पाना शेष नहीं है।

यथोपश्रयमाणस्य, भगवन्तं(वँ) विभावसुम् ।

शीतं(म्) भयं(न्) तमोऽप्येति, साधून् सं(म्)सेवतस्तथा॥ 31॥

उनकी तो बात ही क्या-जिसने उन संत पुरुषों की शरण ग्रहण कर ली उसकी भी कर्मजड़ता, संसारभय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। भला, जिसने अग्निभगवान का आश्रय ले लिया उसे शीत, भय अथवा अन्धकार का दुःख हो सकता है?

निमज्ज्योन्मज्जतां(ङ्) घोरे, भवाब्धौ परमायनम् ।

सन्तो ब्रह्मविदः(श्) शान्ता, नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥ 32॥

जो इस घोर संसार सागर में डूब-उतरा रहे हैं, उसके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त संत ही एकमात्र आश्रय है, जैसे जल में डूब रहे लोगों के लिये दृढ़ नौका।

अन्नं(म्) हि प्राणिनां(म्) प्राण, आर्तानां(म्) शरणं(न्) त्वहम् ।

धर्मो वित्तं(न्) नृणां(म्) प्रेत्य, सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥ 33॥

जैसे अन्न से प्राणियों के प्राण की रक्षा होती है, जैसे मैं ही दीन-दुखियों का परम रक्षक हूँ, जैसे मनुष्य के लिये परलोक में धर्म ही एकमात्र पूँजी है-वैसे ही जो लोग संसार से भयभीत हैं, उनके लिये संतजन ही परम आश्रय हैं।

सन्तो दिशन्ति चक्षूं(म्)षि, बहिरर्कः(स्) समुत्थितः ।

देवता बान्धवाः(स्) सन्तः(स्), सन्त आत्माहमेव च ॥ 34॥

जैसे सूर्य आकाश में उदय होकर लोगों को जगत् तथा अपने को देखने के लिये नेत्रदान करता है, वैसे ही संत पुरुष अपने को तथा भगवान को देखने के लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं। संत अनुग्रहशील देवता हैं। संत अपने हितैषी सुहृद हैं। संत अपने प्रियतम आत्मा हैं। और अधिक क्या कहूँ, स्वयं मैं ही संत के रूप में विद्यमान हूँ।

वैतसेनस्ततोऽप्येव- मुर्वश्या लोकनिः(स्) स्पृहः ।

मुक्तसं(ङ्)गो महीमेता- मात्मारामश्चचार ह ॥ 35॥

प्रिय उद्धव! आत्मसाक्षात्कार होते ही इलानन्दन पुरूरवा को उर्वशी के लोक की स्पृहा न रही। उसकी सारी आसक्तियाँ मिट गयीं और वह आत्माराम होकर स्वच्छन्द रूप से इस पृथ्वी पर विचरण करने लगा।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)

सं(म्)हितायामेकादशस्कन्धे षड्विं(म्)शोऽध्यायः ॥

YouTube Full video link

https://youtu.be/dhKUYYpoWHM